AMOGHVARTA

ISSN : 2583-3189

वर्ण व्यवस्था और डॉ. भीमराव अंबेडकर

ORIGINAL ARTICLE

Author
डॉ. मनोज कुमार दास
सहायक प्राध्यापक
विश्वविद्यालय गांधी विचार विभाग
तिलका मांझी भागलपुर विश्वविद्यालय
भागलपुर, बिहार, भारत

शोध सार

भारत के सामाजिक इतिहास में वर्ण व्यवस्था का अत्यधिक महत्व है, क्योंकि उसी से व्यक्ति परिवार और समाज के कर्तव्य निर्धारित होते हैं। भारतीय समाज की उत्पत्ति, संरचना एवं कार्य बड़े ही विलक्षण है। इसी तथा मुस्लिम संप्रदायों के भारत में आने के पूर्व यहां कहां जाता है कि वर्ण व्यवस्था का ही अस्तित्व था जन्म से मरण पर्यंत प्रत्येक हिंदू के विभिन्न संस्कार वर्ण– भेद के अनुसार ही होते रहे हैं। यहां तक कि हिंदुओं के राजनीतिक, आर्थिक और धार्मिक संगठनों की रूपरेखाएं वर्ण व्यवस्था द्वारा ही निर्धारित हुई है। भारत में अनेक विदेशी धर्म तथा विचार आए यहां भी बहुत से संप्रदायों का जन्म हुआ और राजनीतिक सत्ताएं बदलती रहीं। किंतु वर्ण व्यवस्था का विनाश अथवा विलोप ना हो सका। वह आज भी अनेक रूपों में विद्यमान है। डॉ. भीमराव अंबेडकर ने वर्ण व्यवस्था को अवैज्ञानिक अमानवीय और शोषणकारी बताया जो सामानता के सिद्धांतों की विपरीत है। उनका मानना था कि यह व्यवस्था जन्म पर आधारित होकर जाति व्यवस्था में बदल गई और अस्पृश्यता का मूल कारण बनी इसलिए इसके उन्मूलन के लिए धर्म परिवर्तन की वकालत की ताकि समता स्वतंत्रता और बंधुत्व पर आधारित न्याय पूर्ण समाज का निर्माण हो सके। सामाजिक न्याय के प्रणेता डॉ. भीमराव अंबेडकर ने समानता स्वतंत्रता और बंधुत्व के आदर्शों पर आधारित समाज के लिए संघर्ष किया। डॉ भीमराव अंबेडकर के लिए वर्ण व्यवस्था भारतीय समाज के शोषण और असमानता का मुख्य स्रोत थी जिसे जड़ से खत्म किए बिना दलितों का उत्थान संभव नहीं था और इसके लिए उन्होंने मौलिक सामाजिक और धार्मिक परिवर्तन की वकालत की।

मुख्य शब्द

वर्ण, जाति, रंग, सामाजिक, वर्ग, समाज.

प्रस्तावना

वर्ण: वर्ण व्यवस्था भारत के इतिहास में सबसे अधिक महत्व है,क्योंकि उसी से व्यक्ति, परिवार, और समाज के कर्तव्य निर्धारित होते हैं। सामान्यतः ''वर्ण'' शब्द तीन प्रचलित अर्थों में प्रयुक्त होता है– रंग, चयन तथा सामाजिक वर्ग। रंग के आधार पर वर्ण व्यवस्था का प्रबंध किया गया अर्थात् वर्ण व्यवस्था में जो चार वर्ण– ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शुद्र,बतलाए गए हैं उनका रंग क्रमशः श्वेत, लाल, पीला एवं काला माना गया है। वर्ण के अर्थ में रंगों को मानव प्रवृत्तियों या गुणों के साथ जोड़ा गया अर्थात् ब्राह्मण में सत्व गुण पाया जाता है जो ज्ञान तथा निर्मलत्व से संबंधित होता है। ब्राह्मण ज्ञानवान तथा वेदों में दक्ष होता है इसलिए उसका रंग श्वेत है। क्षत्रिय में रजोगुण होता

है जो राग का, कामना की प्रवृत्ति है। चुंकि राग लोहित होता है, इसलिए क्षत्रिय का वर्ण अथवा रंग लाल माना गया है। वैश्य में रज और तम दोनों गुण होते हैं। दोनों के सम्मिश्रण से पीला रंग उत्पन्न होता है। अतः वैश्य का रंग पीला माना गया। शुद्र में तमोगुण अधिक होता है जो अज्ञान का प्रतीक है। अज्ञान अंधकार पूर्ण होता है, इसलिए शुद्र के वर्ण अथवा रंग को काला कह कर पुकारा गया है।[1]

वर्ण व्यवस्था के विभाजन में रंग का आधार कितना है प्राकृतिक तथा यथार्थ कतई नहीं है, क्योंकि व्यक्ति के रंग का निर्धारण अनेक जैविक तत्वों द्वारा होता है जो वर्ण व्यवस्था में संभव नहीं है। व्यक्ति अपने में विलक्षण होता है जैसा कि डॉ. भीमराव अंबेडकर ने प्लेटो के सामाजिक विभाजन की समीक्षा करते समय अपने ग्रंथ ''एनिहिलेशन ऑफ कॉस्ट'' (जाति प्रथा का उन्मूलन) में माना है। मानव प्राणियों को चार कठोर वर्णों में विभाजित करना, एक अप्राकृतिक तथा बनावटी कार्य है। वैसे वर्ण भारतीय समाजशास्त्रीय तथा दार्शनिक चिंतन में अति प्राचीन शब्दों में से है, किंतु उसे किसी प्रकार के ''चयन'' के साथ जोड़ना उसी प्रकार निरर्थक है जिस प्रकार उसे ''रंग'' से संबंधित मानना। वर्ण व्यवस्था के चार वर्णों में व्यक्तियों के चयन का प्रचलन कभी नहीं रहा और ना ही ऐसी प्रक्रिया व्यावहारिक हो सकती है। समाजशास्त्र की दृष्टि से वर्ण को लेकर केवल 'सामाजिक वर्ग विभाजन' के साथ जोड़ना न्यायोचित होगा, क्योंकि यद्यपि वर्ण एक प्रकार से वर्ग ही होता है, किंतु उसको वर्ग नहीं कहा जा सकता।वर्ण तथा वर्ग के बीच कुछ समाजशास्त्रीय भिन्नताएं और सीमाएं होती हैं।

मूलतः वर्ण व्यवस्था को चार वर्णों– ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शुद्र में विभाजित किया गया है। इस विभाजन में ''सामाजिक प्रतिष्ठा और कार्यात्मक योग्यता'' को ध्यान में रखा गया अर्थात प्रतिष्ठा की दृष्टि से ब्राह्मण सबसे उच्च, फिर इसी क्रम में शुद्र सबसे नीचे आता है। ब्राह्मण का कार्य वेदाध्ययन, क्षत्रिय का शासन, वैश्य का कृषि व्यापार और शूद्र का कार्य इन तीनों की सेवा करना माना गया जिसमें जो कार्यात्मक योग्यता पाई गई उसे वही काम सोपा गया। कहा जाता है कि वर्ण का वर्गीकरण समाज की सुव्यवस्था के लिए किया गया था, किंतु कर्तव्य तथा अधिकारों की विभाजन में जो अन्याय तथा भेद–भाव किया गया ,उससे वर्ण व्यवस्था की अवनति स्वाभाविक थी। डॉ. अंबेडकर ने वर्ण व्यवस्था को किसी भी रूप में स्वीकार नहीं किया जैसा कि उनकी कई कृतियों– जाति प्रथा का उन्मूलन ,हिंदुत्व का दर्शन, शूद्र की खोज आदि से प्रमाणित है। उन्होंने उसका निषेध वशिष्ठ अध्ययन एवं परीक्षा के आधार पर किया। डॉ भीमराव अंबेडकर का निष्कर्ष इस प्रकार है':

ब्राह्मण को ज्ञान प्राप्त करना चाहिए, क्षत्रिय को शस्त्र चलाने की शिक्षा लेनी चाहिए, वैश्य को व्यापार करना चाहिए, और शूद्र को सेवा करनी चाहिए– यह सब परिवार में परस्पर निर्भरता का जो सिद्धांत निहित है ,उस रूप में प्रस्तुत किया गया है। यह पूछा जाता है कि एक शुद्र को धन प्राप्त करने की क्या आवश्यकता है, जब अन्य तीनों वर्ग उसकी सहायता करने के लिए मौजूद है? शुद्र को शिक्षा प्राप्त करने की क्या आवश्यकता है, जब जरूरत होने पर पढ़ने– लिखने के लिए वह ब्राह्मण के पास जा सकता है? जब क्षत्रिय उसकी रक्षा करने के लिए तैयार है, तब उसे शस्त्र धारण करने की क्या आवश्यकता है? चातुर्वर्ण्य के सिद्धांत को इस अर्थ से समझते हुए कहा जा सकता है कि समाज में शुद्र को एक रक्षित व्यक्ति के रूप में, और अन्य तीनों वर्गों को उसके रक्षक के रूप में देखा जाता है। इस प्रकार का अर्थ लगाने से यह एक सरल तथा प्रलोभित करने वाला सिद्धांत बन जाता है। चर्तुवर्ण्य के सिद्धांत के पीछे यही सही दृष्टिकौन है, ऐसा जानते हुए भी मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि यह व्यवस्था ना तो अपने आप में एक परिपूर्ण व्यवस्था है, और ना ही छलपूर्ण उद्देश्य से मुक्त है। यदि ब्राह्मण, ज्ञान प्राप्त करने में ,क्षत्रिय सैनिक बनने में और वैश्य व्यवसाय करने में असफल हो जाए, तब कैसी स्थिति उत्पन्न होगी? इसके अलावा यदि वह अपना कार्य करते भी हैं, परंतु शुद्र के प्रति अथवा एक–दूसरे के प्रति कर्तव्यों का पालन नहीं करते, तब भी कैसी स्थिति उत्पन्न होगी? यदि वह तीनों वर्ण शुद्र को किसी न्यायोचित आधार पर सहायता करने से इनकार करते हैं अथवा उसका दमन करने के लिए एकत्रित हो जाते हैं, तब उसकी अवस्था कैसी हो जाती है? तब शूद्रों के हितों रक्षा कौन करेगा? अथवा इसी संदर्भ में वैश्य अथवा क्षत्रिय के हितों की रक्षा कौन करेगा, जब उनके सीधेपन का कोई ब्राह्मण लाभ उठाने का प्रयास करता है? शुद्र की अथवा इस संबंध में ब्राह्मण अथवा वैश्य की स्वतंत्रता की रक्षा कौन करेगा, यदि क्षत्रिय ही उनके इस अधिकार को छीनने का प्रयास करता है।

किसी भी समाज में एक वर्ग का दूसरे वर्ग से पूर्णतः अलग रहना संभव नहीं है; आपसी निर्भरता एक स्वाभाविक स्थिति है। कई बार परिस्थितियाँ ऐसी होती हैं कि एक वर्ग को दूसरे वर्ग पर आश्रित रहने की स्वीकृति भी देनी पड़ती है। किंतु प्रश्न यह उठता है कि किसी व्यक्ति को उसकी मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पूरी तरह किसी अन्य व्यक्ति पर आश्रित क्यों बनाया जाए? शिक्षा प्रत्येक व्यक्ति को मिलनी चाहिए। अपनी रक्षा के साधन प्रत्येक के पास होने चाहिए। अपने स्व– संरक्षण के लिए प्रत्येक मनुष्य की यह अत्यंत महत्वपूर्ण ज़रूरतें हैं। उसका पड़ोसी शिक्षित तथा शास्त्रधारी है, यह बात उस व्यक्ति के लिए जो स्वयं अशिक्षित तथा निःशस्त्र है किस प्रकार उपयोगी हो सकती है? यह संपूर्ण सिद्धांत ही निरर्थक है। चतुर वर्णी के सिद्धांत के पीछे भिन्न–भिन्न वर्गों में रक्षित तथा रक्षक का संबंध होने की भावना निहित है, इस बात को जानते हुए भी हमें यह स्वीकार करना होगा कि रक्षक के बुरे कार्य से रक्षा का कोई प्रबंध नहीं है तो इसमें रक्षित व्यक्ति के हितों की हानि ही होगी।

शूद्रों के साथ इन तीनों वर्गों ने कैसा व्यवहार किया, यह बात हमें मनु के इस विधान से स्पष्ट हो जाती है। सामाजिक अधिकारों से संबंधित मनु के विधि– नियमों से अधिक कुख्यात अन्य दूसरी विधि– नियमावली नहीं है। किसी स्थान का कोई भी सामाजिक अन्याय का उदाहरण उसके सामने फीका पर जाएगा। जिन सामाजिक बुराइयों के तहत उन पर अत्याचार किए गए, उन्हें अनगिनत लोगों ने क्यों सहन किया? दुनिया के दूसरे देशों में सामाजिक क्रांतियां हो गई, भारत में सामाजिक क्रांति क्यों नहीं हो सकी, इस प्रश्न से मैं निरंतर चिंतित रहता हूं। इस प्रश्न का मैं केवल एक ही उत्तर दे सकता हूं वह यह है कि चतुर्वर्णर्य की इस व्यवस्था ने हिंदू समाज के निचले स्तर के लोगों को किसी भी प्रकार की प्रत्यक्ष वृत्ति के लिए पूर्ण रूप से अयोग्य बना दिया है। वे शस्त्र धारण नहीं कर सकते और बगैर शास्त्र के विद्रोह नहीं कर सकते।[1]

शोध के उद्देश्य

डॉ. भीमराव अंबेडकर अपने जीवन काल में वर्ण व्यवस्था के कारण, वर्ण, जाति, छुआछूत, जात–पात कितनी चरम सीमा पर थी, उन्होंने स्वयं अनुभव किया है। डॉ. भीमराव अंबेडकर ने वर्ण व्यवस्था को भारतीय समाज की सबसे बड़ी बुराई माना और इसके उन्मूलन के लिए शैक्षिक सामाजिक और धार्मिक स्तर पर गहरा परिवर्तन लाने का प्रयास किया,जिसमें संविधान और बौद्ध धर्म उनके प्रमुख साधन थे। डॉ. भीमराव अंबेडकर का वर्ण व्यवस्था के प्रति उद्देश्य इसे पूरी तरह समाप्त करना था, क्योंकि वह इसे अवैज्ञानिक अनैतिक और शोषणकारी मानते थे जिसमें वंचितों, दलितों, पिछड़ों के साथ भेदभाव और उत्पीड़न झेलना पड़ता था। उनका उद्देश्य था कि एक ऐसे भारत का निर्माण करना , जहां सभी नागरिकों को विशेष कर दलित और वंचितों, पिछड़ों को स्वतंत्रता, शिक्षा और विकास के समान अवसर मिले,ताकि समतामूलक ,स्वतंत्रता ,बंधुत्व और न्याय पूर्ण समाज स्थापित करना चाहते थे।

अधिकांशतः खेती करने वाले लोग थे या यूँ कहें कि उन्हें खेती तक सीमित रहने के लिए बाध्य किया गया। उन्हें अपने हल को हथियार में बदलने की स्वतंत्रता नहीं थी। उनके पास शस्त्र नहीं थे, इसलिए वे अपने खेतों तक ही सीमित रहने को विवश थे। चार्तुवर्ण्य व्यवस्था के कारण वे शिक्षा से भी वंचित रहे। यह सत्य है कि यूरोप में भी शक्तिशाली वर्गों ने अपने हित साधने के लिए दुर्बलों का शोषण किया, परंतु वहाँ की स्थिति भारत से भिन्न थी। यूरोप में सशक्त वर्गों ने कमजोरों को इस हद तक असहाय नहीं बनाया कि वे शोषण के विरुद्ध पूरी तरह निरुपाय हो जाएँ। वहाँ सामाजिक संघर्ष अधिक तीव्र रहे, और कमजोर वर्गों को सैनिक सेवा में भाग लेने तथा शस्त्र धारण करने का अवसर मिला। उन्हें मतदान का अधिकार भी प्राप्त हुआ, और शिक्षा के माध्यम से नैतिक शक्ति भी मिली। इन तीनों माध्यमों–सैनिक, राजनीतिक और शैक्षिक अधिकारकृको उनसे पूर्णतः नहीं छीना गया।

इसके विपरीत, चार्तुवर्ण्य व्यवस्था के प्रभाव से भारत में जनसाधारण से ये तीनों अधिकार छीन लिए गए। ऐसी सामाजिक संरचना, जो लोगों को अपनी उन्नति और कल्याण के लिए सक्रिय होने से रोक दे और उन्हें मानो निष्क्रिय एवं निर्बल बना दे, उससे अधिक अधम व्यवस्था और क्या हो सकती है?[2]

स्पष्ट है कि डॉ. भीमराव अंबेडकर ने वर्ण व्यवस्था को एक समाजशास्त्रीय ढंग से समझा और विश्लेषित किया। उसे किसी दृष्टि से उपयुक्त नहीं माना। सामाजिक जीवन की सुव्यवस्था के लिए वर्ण विभाजन भले ही

अपेक्षित समझ गया हो ,किंतु कालांतर में उसका कोई सुनिश्चित स्वरूप और आदर्श नहीं रह पाया। उसका आधार रंग, चयन अथवा गुण माना गया, किन्तु वह जन्मानुसार व्यक्ति की प्रतिष्ठा एवं योग्यता में आबद्ध हो गई। जन्म से ही ब्राह्मण, भले ही वह मूर्ख हो। जन्म से ही क्षत्रिय,भले ही वह डरपोक हो; जन्म से ही वैश्य, भले ही भीख मांगता हो; और शुद्र भी जन्म से ही, भले ही हुआ निपुण, सबल और कमाऊ पुत्र क्यों ना हो। अतः गुण– कर्म की दृष्टि से वर्णों के आदर्श कर्तव्य तथा अधिकार सुरक्षित नहीं रह पाए, क्योंकि सारी सत्ता दिव्यता और कुशलता ब्राह्मण वर्ण में ही मानी गई जिनका उसके द्वारा दुरुपयोग किया। फलतः सारा भारतीय समाज वर्ण विभाजन के स्थान पर जाति विभाजन की स्थिति में आ गया जिसके कारण हम सब ऊंच– नीच, निकृष्ट भेद–भाव, अन्याय शोषण आदि के शिकार हो गए। इस प्रकार यथार्थ स्थिति में वर्ण व्यवस्था पूर्णतरू अव्यवहारिक एवं निष्फल रही।

जातिः यह शब्द भी समाजशास्त्रीय विश्लेषण का एक महत्वपूर्ण मुद्दा है। जाति की उत्पत्ति के बारे में अनेक विद्वानों ने अपने मत व्यक्त किए हैं कि इसका कारण जन्म, पेशा, गंदगी, वर्ण – बहिष्कार आदि हैं, किंतु डॉ. भीमराव अंबेडकर जैसे समाजशास्त्री ने जाति का मूल आधार वर्ण व्यवस्था को ही माना है, हालांकि वर्ण तथा जाति में अंतर है वर्ण चार हैं जो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र हैं जाति अनेक रूप में है वर्ण का मूल आधार गुण –कर्म है जबकि जाति का मूल संबंध जन्म से है।

वर्ण अपरिवर्तनीय है किन्तु जाति परिवर्तनशील है, वर्ण व्यवस्था में जहां कर्तव्य पर बल दिया गया है, वहां जाति प्रथा में अधिकार पर जोर दिया गया है, और वर्ण की उत्पत्ति दिव्य ईश्वरीय मानी गई है, किंतु जाति की उत्पत्ति में पेशा, गंदगी आदि को स्थान दिया गया है। आज भारत में जाति समस्या ने एक एक दिलचस्प मोड़ ले लिया है, क्योंकि इस अप्राकृतिक विधान को तिलांजलि देने के लिए सतत् प्रयत्न हो रहे हैं। सुधार के ये प्रयत्न जातियों के मूल से संबंधित विवादों से उत्पन्न हुए हैं कि क्या यह प्रथा सर्वोच्च स्तर के आदेशों से हुई है या यह विशिष्ट परिस्थितियों में मानव समाज के सहज विकास का प्रतिफल है। जो व्यक्ति बाद के विचार के पक्षधर हैं, मुझे आशा है कि उन्हें इस प्रबंधन से कुछ विचार सामग्री मिलेगी। इस विषय के व्यावहारिक महत्व के साथ ही जाति प्रथा एक सर्वव्यापी व्यवस्था है और इसका सैद्धांतिक आधार जानने की उत्कंठा मुझमें जगी ,उसी के परिणाम स्वरूप मैंने अपने विचार आप लोगों के सम्मुख उपस्थित किए, जिन्हें मैं सार्थक मानता हूं और वे बातें आपके समक्ष रखीं, जिन पर यह व्यवस्था टिकी है। मैं इतना हठधर्मी भी नहीं हूं कि यह सोचूं कि मेरा कथन ब्रह्म वाक्य हैं या इस विचार–विमर्श में योगदान से बढ़कर कुछ है। मैं सोचता हूं कि धारा का प्रवाह गलत दिशा में मोड़ दिया गया है और इस आलेख का प्राथमिक उद्देश्य यह बताना है कि अनुसंधान का सही मार्ग कौन सा है ,ताकि एक सत्य उजागर हो। हमें इस विषय की विश्लेषण में पक्षपात रहित रहना है। भावनाओं के लिए कोई स्थान नहीं होना चाहिए,बल्कि इस विषय पर वैज्ञानिक और निष्पक्ष रूप से विचार किया जाए।मैं इस बात से प्रसन्न हूं कि मेरा दृष्टिकोण सही दिशा में है, मुद्दे पर जो असहमति है वह तार्किक है ,फिर भी कुछ बातों पर सदा असहमति बनी ही रह सकती है, अंत में जहां मुझे इस बात पर गर्व है कि मैं जाति प्रथा के बारे में एक सिद्धांत प्रतिपादित किया है। यदि यह आधारहीन लगेगा तो मैं इसे तिलांजलि दे दूंगा।[3]

उक्त विचारों से स्पष्ट है कि डॉ. अंबेडकर ने वर्ण तथा जाति का पूर्णतः विरोध किया। दोनों ही प्रथाओं में सामाजिक असमानता तथा अन्याय अंतर निहित है। दोनों समाज के आर्थिक विकास में अवरोधक तत्व है। दोनों में दंभ प्रदर्शन मिलता है जिसके कारण परस्पर ऊंच –नीच निकृष्ट भेद–भाव आदि फैलते हैं। वर्ण तथा जाति के प्रति आबद्धता से सरकारी सेवा में भर्ती के समय और आम चुनाव आदि में योग्यता की उपेक्षा की जाती है। संभवतः दोनों का दुष्परिणाम अस्पृश्यता में अभिव्यक्त हुआ जिसके बारे में भी डॉक्टर भीमराव अंबेडकर ने एक समाजशास्त्रीय विवेचन किया है।

अस्पृश्यताः भारतीय समाज में अस्पृश्यता एक ऐसा कलंक है जिसे विधिक तथा संवैधानिक रूप में मिटा तो दिया गया है, किंतु व्यवहार में वह आज भी अनेक रूपों में प्रदर्शित होता है। कहा जाता है कि वेदकालीन समाज में किसी भी वर्ण के लिए ''अस्पृश्य'' का व्यवहार नहीं था। वैसे उपनिषद् काल में चांडाल आदि का उल्लेख है, जिन्हें

कालांतर में अस्पृश्य माना जाने लगा। अस्पृश्यता एक मानसिक धारणा है जो स्मृति काल से अधिक प्रचलित हो गई। वस्तुतः अस्पृश्यता की उत्पत्ति के अनेक कारण हैं किंतु स्मृतिकाल में अत्यंत निकृष्ट काम करने वालों को अस्पृश्य कहा गया जिनको देखना, छूना तथा उनका साया भी सवर्ण लोगों को अपवित्र कर देता था। अस्पृश्यों का एक ऐसा वर्ग विकसित हो गया कि अन्य लोगों ने इसके साथ कोई संबंध नहीं रखा, उन्हें स्पर्श करने की अयोग्य माना गया।

निस्संदेह अस्पृश्यता हमारी समाज व्यवस्था की एक निकृष्ट बुराई है। इसकी उत्पत्ति के बारे में डॉ. अम्बेडकर ने अपने ग्रंथ ''अछूत कौन और कैसे?'' में इन तथ्यों की खोज की कि (1) हिंदू एवं अछूतों में कोई नस्ल भेद नहीं है रू(2) अस्पृश्यता से पहले उनके बीच केवल सामुदायिक एवं बिखरेपन की भिन्नता थी। केवल बिखरे लोग ही अस्पृश्य बने; (3) जिस प्रकार अस्पृश्यता का कोई नस्ली आधार नहीं है ,उसी प्रकार कोई व्यावसायिक (पेशागत) आधार भी नहीं है; और (4) केवल दो तथ्यों के कारण अस्पृश्यता का प्रादुर्भाव हुआ–(क) ब्राह्मणों द्वारा बौद्धों के रूप में बिखरे लोगों के प्रति घृणा की भावना और (ख) गोमांस का बिखरे लोगों द्वारा उपभोग करते रहना।[4]

अस्पृश्यता की उत्पत्ति के कुछ भी कारण रहे हों, किन्तु उसके व्यवहार के परिणामस्वरूप हिंदू समाज में करोड़ों की संख्या में अस्पृश्य स्त्री– पुरुष पैदा हो गए ,जिन्हें देखना, छूना तथा उनकी छाया में आना पाप समझ गया। उन्हें अपवित्र और पशुओं से बद्तर माना गया है। उनके साथ कोई सामाजिक आचार– विचार संभव नहीं था और ना ही उन्हें उन पूजा –अर्चना के स्थानों और मंदिरों में जाने दिया जाता था, जहां उनके रचयिता ईश्वर बैठता है। पंडा– पुजारियों ने अस्पृश्यों को तमाम मानवीय स्थितियों से अलग दूर रखा ताकि वे समाज में प्रदूषण नहीं फैला सकें। आज भी ऐसे क्षेत्र गांव हैं जहां सामाजिक दृष्टि से अस्पृश्यों का अस्तित्व है। डॉ. भीमराव अंबेडकर ने तो यह निरीक्षण किया कि अस्पृश्यता की स्थिति के लिए लज्जित होने की बजाय हिंदू लोग उसकी सुरक्षा करते हैं। उसकी सुरक्षा का बिंदु यह है कि हिंदुओं ने कभी भी दासता को नहीं माना जिस प्रकार कि अन्य राष्ट्रों ने उसे स्वीकार किया और उसे दृष्टि से अस्पृश्यता दासता से बुरी नहीं है। यह बात लाला लाजपत राय ने अपने ग्रंथ ''अनहैप्पी इंडिया'' में कहीं।[5]

लेकिन डॉक्टर भीमराव अंबेडकर के अनुसार अस्पृश्यता दासता से कहीं अधिक बद्तर एवं पीड़ादायक है। दास्ता एवं अस्पृश्यता में इतना अंतर है कि वह अस्पृश्यता परतंत्र समाज व्यवस्था का निकृष्ट अंग है। उन्होंने कहा दासता कभी अनिवार्य नहीं रही लेकिन और अस्पृश्यता अनिवार्य है। एक आदमी द्वारा दूसरे आदमी को दास बनाने की अनुमति होती है, किंतु एक अस्पृश्यता के समक्ष ऐसा विकल्प नहीं है। एक बार यदि वह अस्पृश्य पैदा हो गया तो उसे पर अस्पृश्यता होने की सभी अयोग्यताएं थोप दी जाती है। दासता का कानून उत्थान की अनुमति देता है। एक बार दास हमेशा दास रहे ऐसा दास का भाग्य नहीं था। अस्पृश्यता दासता का एक अप्रत्यक्ष रूप है। अस्पृश्यों को उनकी दासता के प्रति सचेत बनाए बिना दास ही बनाना है। यह दासता है, हालांकि अस्पृश्यता कहते हैं। यह यथार्थ है किंतु अप्रत्यक्ष है। यह अस्थाई है, क्योंकि वह अचेतन है इन दो व्यवस्थाओं में किसी संदेह से पड़े अस्पृश्यता कहीं बदतर है।[6]

निष्कर्ष

भीमराव अंबेडकर के दृष्टिकोण से दासता और अस्पृश्यता दोनों ही ऐसी व्यवस्थाएँ हैं जो स्वतंत्र समाज की अवधारणा के विपरीत खड़ी होती हैं। उनके अनुसार, दासता की तरह अस्पृश्यता भी व्यक्ति की स्वतंत्रता का हनन करती है; किंतु यह उससे भी अधिक कठोर है, क्योंकि इसमें एक अस्वतंत्र सामाजिक व्यवस्था के तथाकथित लाभ भी उपलब्ध नहीं होते। इसके विपरीत, इसमें स्वतंत्र समाज के सभी दुष्परिणाम तो दिखाई देते हैं, परंतु स्वतंत्रता से मिलने वाले अधिकार और अवसर नहीं मिलते।[7] स्पष्ट है कि डॉक्टर भीमराव अंबेडकर ने वर्ण व्यवस्था या वर्ण, जाति और अस्पृश्यता का जो अध्ययन निरीक्षण तथा विश्लेषण किया, वह अत्यंत ही सारगर्भित समाजशास्त्रीय महत्व का है। उन्होंने न केवल संबंधित तथ्यों की खोज की, बल्कि उनके अर्थ एवं प्रयोजन का भी विवेचन किया है उनकी कृतियों में विस्तार से समाजशास्त्रीय विधियों एवं खोजने का उल्लेख है। यहां तो केवल कुछेक की रूपरेखाएं प्रस्तुत

की गई है। वर्ण, जाति एवं अस्पृश्यता के विवेचन में डॉक्टर भीमराव अंबेडकर ने यह संकेत अवश्य दिया है कि ये तीनों हिंदू समाज व्यवस्था के क्रमिक अंग हैं और उनमें अब इतना अंतःसंबंध स्थापित हो चुका है कि जो स्त्री– पुरुष यदि उन जातियों में जन्म लेते हैं ,जो अपवित्र तथा गंदी रहती हैं तो वे भी जातिगत आधार पर अस्पृश्य ही मानी जाती है। कुछ जातियों के स्त्री– पुरुषों को तो जन्म से ही अस्पृश्य मान लिया जाता है। वस्तुतः अस्पृश्यता को शुद्र– अछूत; अति –शुद्र और गांधी के हरिजनों के साथ जोड़ दिया गया है। इस भावनाओं से कि यह निकृष्ट एवं दुष्कर्म करते हैं किंतु जो ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य अथवा तथा कथित उच्च जातियों की स्त्री– पुरुष निकृष्ट तथा दुष्कर्म करते हैं, उन्हें क्यों अस्पृश्य नहीं माना जाता? जब हिंदू समाज, धर्म और दर्शन में कर्म –प्रधान है तो फिर गुण –कर्म से ही प्रत्येक हिंदू की सामाजिक स्थिति एवं प्रतिष्ठा को क्यों मूल्यांकित नहीं किया जाता ?आज विधि के समक्ष सभी भारतीय स्त्री– पुरुष सामान समझे जाते हैं तो फिर उन्हें क्यों उन्हें जन्म के आधार पर ऊंच– नीच ,छूत–अछूत,सवर्ण–अ वर्ण आदि माना जाता है? क्या वर्ण ,जाति तथा अस्पृश्यता के तीनमूर्ति को किसी भी तरह छिन्न भिन्न कर मिटाया जा सकता है? यह समाजशास्त्रियों के समक्ष एक बहुत बड़ी चुनौती है। डॉक्टर भीमराव अंबेडकर जैसे विध्वंसक यदि समाज में पैदा होते रहें, तो संभवतः ऐसा युग आ सकता है जहां जातिविहीन समाज की स्थापना का स्वप्न साकार हो सके। हमें ऐसी आशा करनी चाहिए। इसमें कोई हानि नहीं है।

संदर्भ सूची

1. झा, सीताराम (1974) *भारतीय समाज का स्वरूप,* बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी, पटना, पृ. 4–5।
2. अंबेडकर, बाबासाहेब (1994) *संपूर्ण वांग्मय,* खंड 6, भारत सरकार प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 92–94।
3. अंबेडकर, बाबासाहेब (1993) *संपूर्ण वांग्मय,* खंड 1, भारत सरकार प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 30–36।
4. अंबेडकर, बी. आर. (1948) *रूदअण्टचेबिल्स,* अमित बुक कंपनी, नई दिल्ली, अध्याय 15 एवं 16।
5. अंबेडकर, बाबासाहेब (1989) *राइटिंग्स एंड स्पीचेज,* खंड 5, महाराष्ट्र सरकार प्रकाशन, बम्बई, पृ. 15।
6. अंबेडकर, बाबासाहेब (1989) *राइटिंग्स एंड स्पीचेज,* खंड 5 महाराष्ट्र सरकार प्रशासन, मुंबई, पृ. 15।
7. वही, पृ. 16।

––==00==––